पूज्य लालचंदभाई के प्रवचन
तारीख २६-०८-१९९०, २७-०८-१९९०
प्रश्नोत्तरी, प्रवचन ५७१

२६-०८-१९९०

मुमुक्षु: साहेब जो आज सुबह के प्रवचन में एक, दो, तीन बोल आए, वहाँ तक तो बंध-मोक्ष का प्रश्न नहीं लेकिन उसके बाद किस तरह से चूक हो जाती है (उसका) विशेष प्रकार से चारों बोल का वर्णन कीजिए।

पू. लालचंदभाई: सुबह में ऐसी बात आई थी। हिन्दी में थोड़ा। हिन्दीवाले आए हैं ना।

ये आत्मा है न वो ज्ञानमयी है, तो ज्ञान में से ज्ञान प्रगट होता है। क्या कहा? आत्मा ज्ञानमयी होने से ज्ञान में से ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानमयी होने से उसमें से राग प्रगट नहीं होता है, ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान यानि उपयोग लक्षण जो है जो (तत्त्वार्थ) सूत्र जी (अध्याय २ सूत्र ८) में कहा है, ऐसा ज्ञान में से ज्ञान प्रगट होता है।

दो बातें हो गईं। एक तो ज्ञान यानि ज्ञानमयी आत्मा है, उसमें से एक ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है। ठीक है? उसमें से राग प्रगट नहीं होता है। आत्मा के आश्रय से राग उत्पन्न नहीं होता है और राग आत्मा को प्रसिद्ध नहीं करता है और राग आत्मा में अभेद नहीं होता है; इसलिए राग तो भिन्न तत्त्व है। ज्ञान की जाति नहीं है उसमें। ज्ञान का निशान राग में नहीं है, नहीं है निशानी उसमें, ऐसा है; (राग में) पुद्गल की निशानी है। इसलिए आत्मा ज्ञान है और ज्ञान में से ज्ञान उपयोग प्रगट होता है; ज्ञान की क्रिया होती है, जानन-क्रिया। दो बात हुईं। दो बात हो गईं ना?

अभी एक तीसरी बात कि अनंतकाल से ऐसा उसको लक्ष में नहीं आता है कि ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान में आबाल-गोपाल सबको भगवान आत्मा जानने में आता है - ऐसा श्रद्धान-ज्ञान उसको उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए पर के लक्ष से जो राग उत्पन्न होता है, (वो) कर्म-आश्रित राग है, पुद्गल-आश्रित राग है, कर्म के उदय में उसकी परिणति जुड़ जाती है। तो ये अनादि से राग भी उत्पन्न होता है, पराश्रित राग उत्पन्न होता है और स्वाश्रित ज्ञान प्रगट होता है। तीन बातें हो गईं।

जो राग प्रगट न हो तो-तो सिद्ध परमात्मा होना चाहिए (मगर) ऐसा तो है नहीं। और जो उपयोग प्रगट न हो तो-तो आत्मा जड़ हो जाए। जड़ भी नहीं हुआ और सिद्ध भी नहीं है अभी। इसलिए पराश्रित राग प्रगट होता है (वो भी) अपने दोष से, कर्म के उदय से नहीं। अपनी जो ज्ञाता-द्रष्टा उदासीन अवस्था (है) उसको समय-समय पर वो (जीव) त्याग करता है और मैं रागी हूँ - ऐसा राग उत्पन्न होता है। मैं देह हूँ, देह मेरा है, तो राग उत्पन्न होगा। पर में मेरेपने की मान्यता।

तीन बातें, वहाँ तक तो ठीक। मगर जब राग ज्ञान की स्वच्छता में दिखाई देता है, तो वहाँ भूल (कर) जाता है। प्रतिभास उसका हुआ, प्रतिभास तो ज्ञायक का भी है और राग का भी है मगर वो भूलता है 'मैं रागी हूँ, मैं रागी हूँ', जो इंद्रियज्ञान में जानने में आया, ज्ञान का अज्ञान कर लेता है।

उपयोग तो है, वो उपयोग शुद्धोपयोग नहीं है, स्वच्छ है; शुद्धोपयोग जैसा चतुर्थ गुणस्थान में,

चौथे गुणस्थान (में) प्रगट होता है, वैसा शुद्धोपयोग नहीं है, उपयोग है। तो उस उपयोग में झलक है उसकी, राग की, देह की झलक तो आती है। तो लक्ष है राग पर, लक्ष ज्ञायक पर नहीं है; स्व पर लक्ष नहीं है, पर ऊपर लक्ष है, तो 'मैं रागी' तो मिथ्यात्व श्रद्धा का दोष हो गया। राग चारित्र का दोष था, मगर उसमें plus (जोड़) कर दिया कि राग; तो मैं जाननहार हूँ, मैं ज्ञानमयी हूँ - वो भूल गया, तो मिथ्यात्व का दोष हो गया - राग का राग उत्पन्न हो गया।

सम्यग्दृष्टि को राग तो उत्पन्न होता है मगर रागी नहीं होता है। 'मैं रागी हूँ' ऐसी भ्रांति (नहीं होती है), मैं तो ज्ञाता हूँ, राग को जानता हूँ (मगर) राग मेरा नहीं है, मैं तो जाननहार हूँ, तो मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता (है) उसको। मगर राग उत्पन्न होता है तो चारित्र का दोष तो लगता है। चारित्र का दोष गौण है, सचमुच (तो) अनंत दु:ख का कारण एक मिथ्यात्व भाव है, श्रद्धा का दोष, बस। जानने के समय भूल गया; दो चीजें जानने में आती हैं; परंतु अनंतकाल से लक्ष पर ऊपर (है), निमित्त पर (है) तो 'मैं रागी' ऐसी भ्रांति हो गई।

श्री गुरु मिले, अरे! तू तो जाननहार है, राग तो तेरा भाव ही नहीं है, सचमुच राग तेरा परिणाम भी नहीं है। तेरा परिणाम तो तेरे साथ अनन्य है, जो उपयोग वो तेरा परिणाम है। राग तो अन्य जाति का है, तेरे आश्रय से नहीं होता है, राग तेरे को प्रसिद्ध नहीं करता है और राग आत्मा में अभेद नहीं होता है; तीन बात हैं। तो वो उसको जुदाई ख्याल में आ गई तो भेदज्ञान हो गया, ज्ञानी हो गया, तो जाननहार रहा राग का। राग रहा, मगर राग के अंदर ममत्वभाव छूट गया, संसार गया। थोड़े टाइम राग रहेगा उसका भी अभाव हो जाएगा, आत्मा के आश्रय से स्वरूप में लीन होगा (तब)। वहाँ भेदज्ञान है।

मुमुक्षु: क्या उपयोग लक्षण जुदा है? और जिसमें स्व-पर का प्रतिभास होता है ऐसा ज्ञान जुदा है?

पू. लालचंदभाई: नहीं, एक ही ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय एक प्रगट होती है, जिसमें स्व-पर का प्रतिभास (होता है), उपयोग जुदा नहीं है, उपयोग आत्मा से अनन्य है। मगर उपयोग आत्मा से अनन्य है, ऐसा कहाँ श्रद्धान है उसको? 'मैं राग से अनन्य, दु:ख से अनन्य हूँ' उसका नाम अज्ञान है। उपयोग जो लक्षण है वो आत्मा से अनन्य है - ऐसा पाठ है। ज्ञान में से ज्ञान आता है, उपयोग प्रगट होता है तो वो अनन्य है, उसमें स्वपरप्रकाशक है, स्वभाव; ऐसा पंचास्तिकायसंग्रह गाथा नंबर १२१, उसमें लिखा है कि स्वपरप्रकाशक ज्ञप्ति ऐसा लक्षण है। एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय वो लक्षण नहीं है, वो तो जड़ है, द्रव्येन्द्रिय तो जड़ है।

उपयोग जुदा और स्वपरप्रकाशक पर्याय जुदी - ऐसा नहीं है। एक ही पर्याय जिसका उपयोग नाम है उसमें ही स्वपरप्रकाशक है। जैसे दर्पण की एक ही पर्याय है, स्वच्छ पर्याय एक ही है। क्या दर्पण से भिन्न है वो? जैसे कोयला भिन्न है, मोर भिन्न है ऐसे (क्या) उसकी स्वच्छता (भी) भिन्न है? नहीं! वो तो अभिन्न है, अनन्य है, एक ही पर्याय है। उसमें दो प्रतिभासित होते हैं - दर्पण का दल भी प्रतिभासित होता है और बाह्य पदार्थ का भी प्रतिभास होता है, झलक। प्रतिभास कहो या झलक कहो, एक ही बात है। वहाँ भेदज्ञान है।

अग्नि प्रतिभासित होती है तो क्या दर्पण गरम हो गया? ऐसा नहीं है। मुंबई में ऐसा बनाव बन गया, मुंबई में ऐसा बनाव बना। एक बड़ा दर्पण था और सर्दी का समय था। माताजी ने थोड़ी सिगड़ी वहाँ रखी थी, भाप उसमें से निकलती थी। वो बालक आया, वो ६ऽत२ (झोला) होता है, उसको रखा या न रखा।

बालक: 'माताजी-माताजी! ये दर्पण जलता है, पानी छिड़क जल्दी'।

माता: ऐसा कर कि तू पानी छिड़क जरा, तो (आग) बुझ जाएगी।

तो उसने (बालक ने) छोटा डिब्बा, बाल्टी तो उठा सके नहीं, छोटा डिब्बा समझे ना? tumbler (गिलास) छोटा डिब्बा (से पानी) दर्पण पर छिड़का।

बालक: मम्मी-मम्मी ये आग बुझती नहीं है। मेरा ये साधन छोटा है, तू बड़ी बाल्टी लेकर छिड़का।

तो वो (बालक) तो समझे नहीं, समझाये तो भी समझे नहीं कि उसमें आग नहीं है, आग भिन्न है और दर्पण की स्वच्छता भिन्न है, समझे ही नहीं। समझाओ तो भी समझे नहीं! Practical (प्रयोग) करना चाहिए ना। तो उसने (माता ने) बालक को समझाने के लिए बाल्टी उठाकर पानी छिड़काया।

बालक: मम्मी अभी ये सारा फ्लैट अपना जल जाएगा।

माता: कि नहीं जलेगा।

बालक: अरे! शांति से जवाब देती है, फोन नहीं करती है। पापा को फोन कर जल्दी।

माता: शांति रख! शांति रख!

तो उसने (माता ने) बालक को कहा कि तेरा हाथ (दर्पण पर) लगा, लगा दे।

बालक: नहीं! मैं जल जाऊँगा। मैं हाथ नहीं लगाऊँगा, तू लगा।

तो उसने (माता ने) हाथ लगाया। ऐसा-ऐसा (दर्पण में) हाथ किया (तो) उसको (बालक को) शंका पड़ गई। बस! शंका पड़ी इतना फेर है। शंका पड़े तो काम हो जाएगा। समझ में आये दृष्टांत तो, ऐसी चीज है।

बालक: हाँ! कुछ है, मेरी कुछ गलती लगती है (क्योंकि) माता जी का हाथ जलता नहीं है।

माता: तो अभी तू तेरा हाथ लगा।

बालक: मैं हाथ नहीं लगाऊँ, मैं तो जरा अँगुली से पहले test (जाँच) करूँगा।

माता: कोई परेशानी नहीं, अँगुली लगाओ।

बालक: माताजी वो तो शीतल लग रहा है, यह अग्नि इसमें है तो भी शीतल लगता है।

माता: कि अग्नि इसमें नहीं है! वो तेरी गलती है, भ्रम है। अग्नि अग्नि में है और स्वच्छता स्वच्छता में है। तो अब तो हाथ लगाओ। (बालक ने) हाथ लगाया, पूरा हाथ बाद में (लगाया)।

बालक: आहाहा! ये तो शीतल है।

स्वच्छ और शीतल, ऐसा है। ऐसे ही उपयोग में राग नहीं आया है; उपयोग में तो उपयोग है। स्वच्छता में जैसे दर्पण है, ऐसे प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय उपयोग प्रगट होता है और उपयोग में ज्ञायक - भगवान आत्मा जानने में आ रहा है। मगर उसका लक्ष निमित्त पर है ना। आहाहा! निमित्त में

अहम् बुद्धि करता है; उपादान को देखता नहीं है। उपयोगमयी आत्मा उपादान है; बाह्य पदार्थ तो निमित्त संयोगरूप हैं। तो राग दिखे तो राग मेरा, क्रोध दिखे तो मैं क्रोधी हो गया, दुःख दिखे तो मैं दुखी हो गया। मनुष्य पर्याय दिखे तो मैं मनुष्य, तिर्यंच में जन्म हुआ (तो) मैं तिर्यंच हूँ, देव में जन्म हुआ (तो) मैं देव हूँ, मैं देव हूँ (ऐसी) भ्रांति हो गई। आहाहा! ऐसा है। भेदज्ञान की बात है, कला है भेदज्ञान की।

मुमुक्षु: ये भ्रांति जल्दी से मिट जाए ना, ऐसा उपाय बताइए।

पू. लालचंदभाई: वही उपाय है। वो ही एक उपाय है कि राग और देह जानने में ही नहीं आता है। जाननहार जानने में आता है, बस, लक्ष फिर गया। लक्ष फेरना है, संयोग को फेरना नहीं है, राग को टालना नहीं है, देह के टुकड़े करके अलोक में भेजना नहीं है। देह देह में है, राग राग में है, ज्ञान में आत्मा है। ज्ञान ज्ञान में है। राग जुदा और ज्ञान जुदा। बस! लक्ष छोड़ना पड़े। एक बार तो लक्ष छोड़ना पड़े कि राग और देह और उपकारी गुरु (भी) जानने में आते नहीं है। साक्षात् तीर्थंकर भगवान हों, सामने बैठे हों (तो भी) तीर्थंकर प्रभु जानने में आते नहीं हैं; जाननहार जानने में आता है। तो लक्ष हट जाएगा वहाँ से, लक्ष अंदर में आ जाएगा, वो भ्रांति टालने का एक ही उपाय है।

दो प्रकार की भ्रांति है - (मैं) राग का कर्ता और राग का ज्ञाता। जो पहले तरह की भ्रांति अभी चलती है (कि मैं) अकर्ता (हूँ)। राग का कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं जाननहार हूँ। समझे? तो पचास टका तो जीत हो गई उसकी। अभी पचास टका बाकी रह गई कि राग को मैं जानता हूँ, राग मेरा ज्ञेय और मैं (उसका) ज्ञाता। राग तेरा ज्ञेय नहीं है, तेरा ज्ञान ही ज्ञेय है, आत्मा ही तेरा ज्ञेय है। वो बेन के भाग में आएगा, वो उसमें आएगा - गुरुदेव के प्रवचन में आएगा। कल से वो मिलेगा, वो प्रवचन।

द्रव्य का निश्चय और पर्याय का निश्चय। द्रव्य का निश्चय क्या? कि आत्मा परिणाम मात्र आत्मा (से) भिन्न है, आत्मा से भिन्न है; और इसलिए परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं है, अकारक है, अकारक यानि कि जाननहार है। अकर्ता यानि ज्ञाता है, ज्ञाता होने से जाननहार, जाननहार, जाननहार है। परिणाम होता है, उसको आत्मा को जानते-जानते (परिणाम को) जान ले, बस इतनी ही मर्यादा तेरी है। मगर उसको भी पहले जानना बंद करना पड़ेगा, वो दूसरा पाठ है। दूसरा पाठ कल से चलेगा।

अज्ञानी ने अज्ञान से (बात को) लंबी चौड़ी कर दी है। और उसमें हाँ में हाँ मिलानेवाले भी तो हैं 'हाँ भैया! राग तो आत्मा ही करता है ना, दुःख तो आत्मा ही भोगता है ना। आहाहा! दूसरे (दुख को) भोगें तो चार गति ही नहीं रहेगी'। तो तेरे को चार गति रखना है? चार गति जिसको चाहिए वो भले माने कि दुःख का भोगता है और राग का कर्ता है। और जिसको दुःख नहीं चाहिए वो कहता है 'मैं तो अकारक-अवेदक हूँ और जानने में राग नहीं आता है, जाननहार जानने में आता है' तो उपयोग वहाँ से हटकर, भेद और निमित्त से हटकर.... राग भेद है, पर पदार्थ, पर पदार्थ निमित्त हैं। निमित्त और नैमित्तिकभाव का लक्ष छोड़कर अभी ज्ञायक का लक्ष आता है ना, तो निमित्त का लक्ष छूटा, नैमित्तिक का अभाव हो गया और स्वभाव प्रगट हो जाता है। बस! इतनी देर है। बात तो छोटी है, बात तो छोटी है।

(जहाँ तक) निमित्त का लक्ष है, तहाँ तक नैमित्तिक राग प्रगट होता है। और निमित्त का लक्ष छूटा, लक्ष फिर गया (तो) मेरे ज्ञान में तो ज्ञायक जानने में आता है। तो आत्मा का जब लक्ष होता है, तब

वीतरागभाव प्रगट होता है, राग प्रगट नहीं होता है। निमित्त का लक्ष छूटा (तो) नैमित्तिक मिथ्यात्व भी गया। निमित्त, जहाँ (तक) दर्शन मोह का लक्ष था तो नैमित्तिक मिथ्यात्व था; निमित्त का लक्ष छूटने से नैमित्तिक भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ; स्वभाव का लक्ष आया तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया। बस! इतनी छोटी बात है, लंबी तो बात है ही नहीं। लक्ष फेरने की बात है, लक्ष फेरे फेर (है)।

जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई;
लक्ष थवाने तेहनो, कह्याँ शास्त्र सुखदायी. (श्रीमद् राजचन्द्र जी, चैत्र सूद ९, १९५७)

जिनपद निजपद एकता, जैसे अरिहंत हैं ना, ऐसा मैं हूँ। और अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ हमारे द्रव्य-गुण-पर्याय (का) मिलान हो जाता हैं। बोलो! ये कैसे? वहाँ तो केवलज्ञान है, इधर तो केवलज्ञान नहीं है, द्रव्य गुण तो मिलते हैं मगर पर्याय से तो मिलते नहीं हैं? पर्याय से मिल गया, मिलता है। कि कैसे? उनमें जानन, जानन, जानन, जानना, जानना, जानना। उनकी चेतना में आत्मा जानने में आता है; हमारी ज्ञान-चेतना में भी आत्मा जानने में आता है, अनुभव में। बस मिल गया कि नहीं? तो मोह क्षय हो गया। **जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई; लक्ष थवाने तेहनो, कह्याँ शास्त्र सुखदायी.**

जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मँझार।
निश्चयभेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार॥ (पंडित बुधजन जी द्वारा भजन, हमको कछु भय ना रे)

सिद्ध समान सदा पद मेरो (नाटक समयसार, मंगलाचरण दोहा ११)। आता है कि नहीं? विश्वास नहीं है! अपने का, 'मैं कौन हूँ?' ये विश्वास नहीं है। मैं रागी हूँ और मैं दु:खी हूँ। आहाहा! मैं जयपुरवाला हूँ और मैं फलाना गाँववाला हूँ। ये गाँव मेरा है। तेरा गाँव ही नहीं है और तेरा काम भी कोई नहीं है। तेरा काम तो तेरे को जानने का है। कर ले न! आहाहा! पर का कर्ता भी नहीं है और ज्ञाता भी नहीं है। वो भ्रांति है, ऐसा लिखा है कि **मैं ज्ञायक समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय** (समयसार कलश टीका, कलश २७१) - ये तो भ्रांति अनादिकाल से चली आ रही है।

ऐसे ४०० साल पहले राजमल जी हो गए, **पांडे राजमल जिनधर्मी, समैसार नाटकके मर्मी** (नाटक समयसार, ग्रंथ समाप्ति और अंतिम प्रशस्ति, गाथा २३)। आहाहा! उनके निमित्त से बनारसीदास जी को आत्मानुभव हो गया, ऐसे अनुभवी पुरुष हो गए (हैं)। उन्होंने लिखा है कि मैं ज्ञाता और षट् द्रव्य मेरे ज्ञेय ऐसी भ्रांति अनादिकाल से चालू है। ये (पर) तेरे ज्ञेय ही नहीं हैं। हें? ज्ञेय ही नहीं हैं, तेरा ज्ञेय तो तेरा आत्मा है। तेरा ज्ञेय, ज्ञान से ज्ञेय भिन्न नहीं होता है; ज्ञान से ज्ञेय अभिन्न होता है। आत्मा ही ज्ञान, आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञाता - ऐसे तीन भेद भी नहीं हैं। तो आत्मा ज्ञाता और ये (पर) मेरा ज्ञेय, ओहोहों! ऐसा तो है ही नहीं। वो सब व्यवहारनय का कथन है। वो व्यवहारनय का कथन अभूतार्थ, असत्यार्थ जानकर अपनी ओर देख लेना। बस! बात तो छोटी है। बात-बात में बढ़ गई बात, हमारे प्रेमचंद जी कहते हैं। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु: बढ़ गई बात में बात, बात तो कुछ भी नहीं थी।

पू. लालचंदभाई: बात-बात में बढ़ गई बात, बात तो कुछ (भी नहीं थी)।

एक (बार) दो बालक झगड़ा करते थे। समझ गए? तो दोनों के सगेवाले आए कि क्या है? लड़के छूटा (करा)। लड़ाई बंद करो, क्योंकि आज तुम लड़ाई करते हो कल को मिलकर साथ में खाएंगे। समझ गए? तो वे कोई माने नहीं, उसमें बात बढ़ गई, दोनों दल लड़ने लगे, झगड़ने लगे, सिर फूट गए। बाद मे सब ने पूछा कि क्या था? कि ये तो दो बालक झगड़ा करते थे उसमें बड़ा झगड़ा हो गया। कि बात तो कुछ नहीं थी मगर बढ़ गई बात।

मुमुक्षु: सिद्धांत?

पू. लालचंदभाई: सिद्धांत ये है कि जाननहार जानने में आता है और मानता है कि मुझे पर जानने में आता है; जाननहार है उसकी जगह मानता है कि मैं राग का कर्ता हूँ। आहाहा! राग का कर्ता, जड़कर्म का कर्ता, कर्म को मैं बाँधता हूँ, ८ कर्म को। इतने शास्त्र लिखे हैं ना, वो संयोग का ज्ञान कराने के लिए हैं। वो संयोग का ज्ञान कराते हैं, जब आत्मा को भूल जाता है आत्मा, अज्ञानी बनता है तो अज्ञान के निमित्त से ८ कर्म बंधते हैं। वो कर्म उदय में आते हैं (और) भेदज्ञान का अभाव है (तो) फिर से वो वहाँ लक्ष करता है तो चक्र चलता है संसार का। आहाहा! संसार-चक्र कट जाता है (कैसे)? मैं तो जाननहार हूँ, जाननहार होने से जाननहार जानने में आता है, आ जाओ अंदर, इधर (स्व में) आ जाओ। आहाहा!

ज्ञाता को कर्ता मानने (से) मुश्किल है बहुत। आहाहा! ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। दिन में दस बार तो ऐसा विचार करना 'मैं ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं हूँ'। बाद में 'ज्ञाता ही हूँ' बस। अभी ज्ञाता किसका? कि ज्ञायक का। ज्ञाता का अर्थ कहेंगे जाननहार, तो (ऐसा मानता है कि) जैसे पर को जानता होगा। इसमें (पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन) आएगा सब, सब इसमें लिखा है। पढ़कर आना। कल से बेन का चलेगा, तबियत के कारण से।

सुबह में द्रव्य का निश्चय चलता है, पर्याय का निश्चय कल से दोपहर में चलेगा; ज्ञान की पर्याय का निश्चय और द्रव्य का निश्चय। द्रव्य का निश्चय ऐसा है कि उत्पाद-व्यय से रहित ध्रुव परमात्मा जो ध्येय है, वो मैं हूँ। उत्पाद-व्यय नाशवान, वो मैं नहीं हूँ, इसलिए कर्ता नहीं हूँ - द्रव्य का निश्चय। आहाहा! सुबह में ध्येय की बात चलेगी, दोपहर में चलेगी ज्ञेय की बात। ज्ञान की पर्याय का व्यवहार और ज्ञान की पर्याय का निश्चय। ज्ञान की पर्याय का व्यवहार दो प्रकार का है। एक (तो) 'मैं पर को जानता हूँ' ज्ञान में आया, वो व्यवहार है; और ज्ञान में स्वपरप्रकाशक है वो भी व्यवहार हो गया। ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक ही जानने में आता है, पर जानने में आता नहीं है तो अनुभव हो जाता है। दो ही बात हैं। वो दो बात ३२० गाथा में हैं, (जो अभी) चलता है। और अंत में २७१ कलश है उसमें, उसमें वही बात है। उन राजमल जी की टीका के ऊपर गुरुदेव का प्रवचन (चलता है)। ये समयसार (कलश) २७१ पर प्रवचन है, कलश तो (समयसार में और कलश टीका में) एक ही है। तो इसमें (समयसार कलश २७१ पर प्रवचन में) ज्यादा माल है, इसलिए छपाया।

मुमुक्षु का लिखित प्रश्न: क्या सिद्ध पर्याय में उपयोग है?

पू. लालचंदभाई: अभी जो क्षायिकभाव हो गया ना, क्षायिकभाव, उपयोग का सदुपयोग हुआ।

तो उपयोग लक्षण नहीं है (बल्कि वो) क्षायिक हो गया, बस। लक्षण-लक्ष्य का भेद था वहाँ तक उपयोग था। जब उपयोग अंदर में जाता है तो शुद्धोपयोग हो जाता है। भेद अपेक्षा से उपयोग है, अभेद अपेक्षा से तो आत्मा है।

मुमुक्षु: समझ में नहीं आया।

पू. लालचंदभाई: लक्ष्य और लक्षण, जो भेद करने में आए तो आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है, भेद से। मगर जो उपयोग आत्मा में लग जाता है, एकाग्रता हो जाती है तो शुद्धोपयोग हो जाता है। उपयोग+शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग+आत्मा।

क्या कहा? उपयोग जो आत्मा में लगे तो शुद्धोपयोग हो जाता है। तो+(plus) हो गया कि नहीं थोड़ा, बढ़ा कि नहीं? पहले 'शुद्ध' शब्द नहीं लगाया था, उपयोग लक्षण (शब्द) लगाया था। बाद में उस उपयोग का सदुपयोग हुआ, सदुपयोग यानि उपयोग जिसका है उसको जानने में लग गया कि नहीं? ऐसा (पर द्रव्य में) जो चिपक गया (था), (अब) ऐसा (अंदर) आ गया। तो उपयोग+शुद्धोपयोग हो गया कि नहीं? और शुद्धोपयोग+आत्मा हो गया, क्योंकि शुद्धोपयोग और आत्मा अनन्य है, अभेद है। अभेदनय से वो आत्मा है इसलिए सिद्ध पर्याय में क्षायिकभाव है; क्षायिकभाव नहीं है वो तो आत्मा ही है; क्षायिकभाव से समझाया जाता है। आहाहा! आत्मा हो गया। ऐसे निर्विकल्पध्यान के काल में भी श्रुतज्ञान और आत्मा जुदा नहीं हैं, श्रुतज्ञान से आत्मा अनन्य है तो सारा आत्मा ज्ञेय हो जाता है, अभेद-ज्ञेय। जैसे अभेद-ध्येय है अनंत गुण का पिंड, ऐसे परिणाम अंदर में गया (तो) अभेद हो जाता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम आत्मा से भिन्न हैं कि अभिन्न? ऐसा प्रश्न आया। कि अभिन्न हैं। सम्यग्दर्शन आत्मा से भिन्न है कि अभिन्न? कि अभिन्न है, आत्मा है, सम्यग्दर्शन नहीं रहा। अरे! सम्यग्दर्शन नहीं रहा? इस ज्ञान ... का भेद दिखाई नहीं देता है, अभेद में भेद दिखाई देता नहीं है। श्रीपालजी, समझ में आया? भेद से समझाया जाता है पर भेद में पड़ता नहीं है, वो तो अभेद है।

शिष्य को अभेद में भेद कल्पना करके समझाया जाता है कि सोना किसको कहें? कि पीला सोना, चिकना सोना। क्या चिकना और पीला उसमें से निकल गया? भेद कल्पना से जो सोने को नहीं जानता है उसको अभेद में भेद, ऐसा व्यवहार करके समझाया जाता है। परंतु भेद, इसमे टुकड़े नहीं होता है। ऐसे उपयोग, शुद्धोपयोग आहाहा! बाद में तो आत्मा हो गया। आहाहा!

यह आपका काम है। कैसेट के बारे में प्रश्न है-जानकारी। वो जाहिर करेंगे।

बाकी तो गुरुदेव ने बहुत खुलासा कर दिया है, (प्रवचन रत्नाकर के) ११ भागों में। ९००० तो टेप हैं। थोड़ा समय निकालकर अपना हित करने के लिए घंटा, दो घंटा स्वाध्याय-चिंतवन-मनन और बाद में निर्णय, निर्णय के बाद में प्रयोग, ऐसा थोड़ा करना चाहिए। केवल सुनने का रस, पढ़ने का रस, उसके बाद तो उसको निर्णय करना चाहिए। **मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या है?** (श्रीमद् राजचन्द्रजी, अमूल्य तत्त्व विचार) आहाहा! वास्तविक स्वरूप क्या है? 'आत्मा रागी है' ये वास्तविक स्वरूप है या 'आत्मा ज्ञानमयी है' ये वास्तविक स्वरूप है? खरा समझे ना? सच्चा। कि 'भैया! संसारी जीव तो रागी होता है'। कि कोई जीव रागी नहीं होता। बोलो! सर्वज्ञ भगवान ने कहा है (कि) सब भगवान आत्मा हैं, कोई जीव रागी नहीं है। पर्यायदृष्टि से देखते हैं इसलिए ख्याल में नहीं आता है;

द्रव्यदृष्टि से देख। पानी तो गरम हो गया। गरम पर्याय गौण कर दे तो शीतल, शीतल, शीतल, शीतल है। बस!

दस मिनट बाकी हैं, किसी को प्रश्न करना हो तो करो।

मुमुक्षु: साहिब, परिणाम होता है और ये आत्मा अकर्ता किस तरह से रहता है?

पू. लालचंदभाई: परिणाम होने योग्य होता है, आत्मा उसका करनेवाला नहीं है। मानता है कि परिणाम का मैं कर्ता हूँ। वास्तव में (तो) आत्मा निष्क्रिय, अकर्ता होने के कारण, ज्ञाता होने के कारण, केवल जाननहार होने के कारण परिणाम का कर्ता नहीं है। तो परिणाम को कौन करता है? परिणाम होता तो है। हाँ! परिणाम होता है और आत्मा अकर्ता रहता है। परिणाम तो हुआ करता है, तो परिणाम का कर्ता कौन है? कि परिणाम का कर्ता परिणाम है।

एक त्रिकाली उपादान और एक क्षणिक उपादान। क्षणिक उपादान के दो प्रकार हैं, एक अशुद्ध क्षणिक उपादान और शुद्ध क्षणिक उपादान। जयसेन आचार्य भगवान ने कहा है जहाँ-जहाँ ये राग की बात आए, वहाँ-वहाँ क्षणिक उपादान से विचार करना तो भेदज्ञान हो जाएगा। उसका स्वकाल है राग करने का; वीतराग होने का भी स्वकाल है। होने योग्य होता है - ऐसी जब कान पर वाणी आए आहाहा! 'परिणाम को मैं करता हूँ' ऐसी मेरी मान्यता थे! आहाहा! भगवान की वाणी में तो ऐसा आया कि 'परिणाम होने योग्य होता रहता है और जाननेवाला जानने में आया करता है'। यह क्या? चमत्कारिक बात! परिणाम की कर्ताबुद्धि छूटी, परिणाम की ज्ञाताबुद्धि छूट गई और जाननेवाला जानने में आ जाए, उस समय अनुभव होता है। आहाहा!

ज्ञानी के समागम में ये वाणी आए (अगर) पात्र जीव हो, पका हुआ फिर 'होने योग्य होता है, जाननेवाला जानने में आया करता है'। 'होने योग्य होता है' अर्थात् मैं परिणाम का करनेवाला नहीं (हूँ)। 'जाननेवाला जानने में आता है' अर्थात् परिणाम को मैं जानता भी नहीं। लक्ष पूरा फिर गया। बाबूभाई! परिणाम होता है, परिणाम (होने) की ना नहीं (है)। मगर परिणाम को कौन करता है? परिणाम का कर्ता परिणाम है या मैं कर्ता हूँ? बस! उसमें सब समाधान है। अपने षट्कारक से परिणाम होता है। तेरे से होता हो तो कर दे ना केवलज्ञान, कर दे ना सम्यग्दर्शन! ले! कर दे।

एक बार एक मूर्ख था। मूर्ख की स्वयं की कर्ताबुद्धि थी ना, वह महाविदेहक्षेत्र तक पहुँचा। महाविदेहक्षेत्र में बीस तीर्थंकर विहरमान, अभी विराजमान हैं, केवली प्रभु हों! आहाहा! कम से कम बीस तीर्थंकर कायम होते ही हैं। उनके नाम भी बदलते नहीं (हैं)। जीव बदल जाते हैं (बस)। सीमंधर प्रभु हैं ना! उनका नाम वही रहेगा। यहाँ तेरहवें तीर्थंकर होंगे तब वो जो सीमंधर भगवान का आत्मा है, वह सिद्ध हो जाएगा; और अभी (एक) साधक में है सीमंधर नाम का जीव, उनको केवलज्ञान होगा। नाम वही का वही रहेगा, जीव बदल गया (बस)। ऐसे बीस तीर्थंकर का नाम बदलता नहीं (है), वही का वही रहता है।

इसमें कोई मूर्ख, कर्ताबुद्धिवाला (कहे) कि प्रभु! मुझे एक विचार आया। प्रभु के सामने हो! सीमंधर प्रभु के सामने। प्रतिमा के सामने खड़ा रहा कि प्रभु मुझे एक विचार आता है कि आपकी वाणी में ऐसा आया कि तेरहवाँ गुणस्थान भी संसार है, मोक्ष नहीं (है)। मुझे यह बात खटकती है। मेरे

प्रभु, मेरे उपकारी नाथ, तीन लोक के नाथ और उनके ऊपर संसारी आरोप आता है। व्यवहारनय करता है (ऐसा) आरोप (परंतु) मुझे अच्छा नहीं लगता। मेरा इतना काम कर दो प्रभु! अच्छा काम कहूँगा। आपको अनंत वीर्य प्रगट हो गया है, अनंतवीर्य-शक्ति-आत्मबल। इतना काम कर दो (कि) सिद्ध पर्याय आप कर दो बस। सिद्ध पर्याय आप कर दो तो ये आक्षेप तो मिट जाए, मेरा सुनना मिटे। (भगवान कहें) कि तुम्हारा प्रश्न मूर्खता भरा हुआ है। आत्मा जाननेवाला है, वो पर्याय का करनेवाला नहीं, होने योग्य होगा तब ही सिद्ध की पर्याय होगी, एक समय भी आगे-पीछे सिद्ध की पर्याय होनेवाली नहीं है। आहाहा! आत्मा जाननेवाला अकर्ता है, पर्याय तो पर्याय के स्वकाल में होती है - ऐसा सर्वज्ञ भगवान जानते हैं। और कर्ताबुद्धिवाला द्रव्य को जानता नहीं, पर्याय को जानता नहीं और सर्वज्ञ भगवान को भी जानता नहीं। उस हद तक पहुँचा। तुम्हारा प्रश्न मूर्खता भरा हुआ है।

यहाँ पर कर्ताबुद्धि है ना भाई साहब! तो वहाँ (तक) पहुँचा वो। कि साहब! इतना काम कर दो। तेरहवाँ गुणस्थान है ना, तेरहवें का व्यय कर दो, चौदहवें का व्यय कर दो और सिद्ध पर्याय का उत्पाद कर दो। और अनंतवीर्य तो प्रगट है (आपको) तो मैं अच्छा काम बताता हूँ। मैं ऐसा नहीं कहता हूँ कि चौथे गुणस्थान में आ जाओ, पहले गुणस्थान में आ जाओ, ऐसा तो मैं आपके प्रति कभी नहीं कहूँ। अच्छा काम कर दो। (अरे!) मूर्खता है तेरी। पर्याय का कर्ता (पर्याय है), (पर्याय) सत्-अहेतुक है। द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् - तीनों सत् हैं, निरपेक्ष हैं। अभ्यास करना चाहिए अपने हित के लिए। जैसे C.A. (सी. ए.) पढ़े तो १० साल २० साल नापास हो, (सफल हो) तब तक परीक्षा दे, थके ही नहीं। तो इसका भी तो अभ्यास करना चाहिए ना, थोड़ा! आहाहा!

छोटी उम्र हो तो side business (गौण व्यापार) शुरू कर दो, main (मुख्य) व्यापार तो बाद में। side business समझे? side business मतलब घंटे, दो घंटे जहाँ तक निवृत्ति न हो तब तक घंटे, दो घंटे तो स्वाध्याय, चिंतन, मनन, सत्-समागम, विचार, निर्णय (करना)।

मुमुक्षु: साहेब, इंद्रियज्ञान और आत्मज्ञान - स्वसंवेदन ज्ञान दोनों अलग हैं, इसके निषेध का स्पष्टीकरण दीजिए?

पू. लालचंदभाई: अनंतकाल से जो उपयोग प्रगट होता है, उस उपयोग का दुरुपयोग करना और 'जाननहार जानने में आता है' उसको भूलकर 'मुझे राग जानने में आता है, शरीर जानने में आता है, मन-वचन-काय जानने में आते हैं, ये परपदार्थ मुझे जानने में आते हैं' इस उपयोग का दुरुपयोग (किया) इसका नाम इंद्रियज्ञान। और इंद्रियज्ञान जिसको जाने उसमें अहंबुद्धि किए बगैर रहे नहीं; इसलिए इंद्रियज्ञान हेय है, आत्मा उपादेय है। तो उस उपयोग का जीव दुरुपयोग करता था उस उपयोग का सदुपयोग करे कि जाननहार जानने में आता है तो अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है।

बाद में अतीन्द्रियज्ञान और इंद्रियज्ञान के दो भेद पड़ जाते हैं। जैसे साधक के चारित्र के दो भेद - थोड़ी वीतरागता और थोड़ा राग (होता है) एक ही पर्याय में, एक ही समय में। पर्याय एक (और) भाग दो, थोड़ा स्व-आश्रय से वीतरागभाव पर-आश्रय से राग। ऐसे ज्ञान की पर्याय एक है, उसका दो भाग - स्वाश्रित अभेद हो जितना उतना अतीन्द्रियज्ञान; और जितना पराश्रित परसत्तावलंबनशील ज्ञान शास्त्र के लक्षवाला (है), वह इंद्रियज्ञान (है), वो तो जड़-अचेतन है। आहाहा! जड़ अचेतन क्यों? क्योंकि उस

ज्ञान में आत्मा जानने में आता नहीं। जैसे राग में (आत्मा) जानने में नहीं आता, ऐसे (ही) इंद्रियज्ञान में, पर लक्षवाले ज्ञान में, ज्ञान अर्थात् इंद्रियज्ञान (में आत्मा जानने में नहीं आता)।

मैं पर को करता हूँ और मैं पर को जानता हूँ - ये दो बड़े दोष हैं। मैं पर को जानता हूँ ये तो स्वभाव है। ठीक! स्वभाव है न पर को जानना? आया, आनंद आया? आनंद नहीं आया। तो फिर स्वभाव कहलाया है या विभाव? इंद्रियज्ञान आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा। प्रवचनसार, दिव्यध्वनि का सार (है) और (उसमें) कहाँ तक कहा? कि इंद्रियज्ञान, वह मूर्तिक है (गाथा ५३, फुटनोट), शास्त्रज्ञान (को) मूर्तिक कहा और कर्मों के बंध का कारण कहा (गाथा ७६)। आहाहा!

एक इंद्रियज्ञान की पुस्तक बाहर पड़ेगा, इसमें सब बातें आयेंगी, शास्त्र के आधार सहित हो! हाँ, शास्त्र के आधार सहित। भाई ने कहा estimate (अनुमान) निकालो कि कितना खर्च आता है, १००० हिन्दी और १००० गुजराती (प्रति)। इस प्रकार कि बात तो हुई है, हो जायेगा तो। कोई भाई ने कहा हम गुजराती ही छपवाते हैं। तो कहा नहीं, १००० गुजराती और १००० हिन्दी, १०००-१००० दो कॉपी। पैसा तो हो जाएगा, पैसा का कोई (कमी नहीं है), गुरुदेव का नाम आये तो पैसे का सवाल नहीं। कहा estimate निकालो। एक पुस्तक बीस रूपए का पड़े तो बीस हज़ार रूपया लगे, भले अंदाज, घटेगा अब, कितना होगा मालूम नहीं। आहाहा!

ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान। अतीन्द्रियज्ञानमयी आत्मा और इंद्रियज्ञान दोनों अलग-अलग चीज हैं, एक नहीं (हैं)। आत्मा के आधार से इंद्रियज्ञान नहीं होता। बोलो!

मुमुक्षु: क्या उपयोग लक्षण ही इंद्रियज्ञानरूप हो जाता है? या उपयोग लक्षण भिन्न रहकर इंद्रियज्ञान जुदा प्रगट होता है?

पू. लालचंदभाई: नहीं उपयोग ही; उपयोग का दुरुपयोग होता है, उसका नाम इंद्रियज्ञान है। मगर इंद्रियज्ञान की उपाधि आपके ख्याल में गौण करो तो उपयोग है। क्या कहा? फिर से। प्रश्न सूक्ष्म है, कि उपयोग इंद्रियज्ञान हो गया? ऐसा नहीं है। इंद्रियज्ञान की उपाधि गौण करो तो-तो उपयोग ही रहा, तो फिर स्वपरप्रकाशक है।

ऐसा प्रवचनसार (गाथा ३४) में आया कि श्रुत की उपाधि गौण करो - श्रुतज्ञान, आता है न श्रुतज्ञान? श्रुत की उपाधि गौण कर दो, बाद बाकी (निकाल) कर दो तो एक ही ज्ञप्ति रहती है, तो केवली के जैसा है वो ज्ञान, ऐसा। इंद्रियज्ञान, वह ज्ञान की उपाधि है यानि plus (जोड़) हो गया, (वो) अतिरिक्त की चीज (है), तो गौण करो तो उपयोग ही है। उपयोग लक्षण सबके पास है ना? तो इंद्रियज्ञान भी सबके पास, अज्ञानी के पास है। तो उपयोग का अभाव हो गया? कि नहीं। उस समय पर (इंद्रियज्ञान) गौण करो तो उपयोग ही है। सूक्ष्म बात है थोड़ी, सूक्ष्म है!

ये जो सारा उपयोग इंद्रियज्ञान हो गया, तो उपयोग लक्षण का तो अभाव हो गया? ऐसा प्रश्न है।

नहीं! अभाव नहीं होता है। इंद्रियज्ञान जो है, गौण करके देख तो उपयोग, उपयोग, उपयोग, उपयोग, उपयोग, उपयोग है, बस। और उस उपयोग में आत्मा जानने में आता है, तो शुद्धोपयोग हो गया, ऐसा। हो गया समय।

जयकारा। मांगलिक।

२७-०८-१९९०

मुमुक्षु: क्या प्रतिभास स्वच्छत्व शक्ति का कार्य है और जानना ज्ञान गुण का कार्य है? ऐसा प्रश्न है।

पू. लालचंदभाई: फिर से।

मुमुक्षु: क्या प्रतिभास ...

पू. लालचंदभाई: पर का प्रतिभास या स्व का?

मुमुक्षु: पर का। क्या प्रतिभास स्वच्छत्व शक्ति का कार्य है और जानना ज्ञान गुण का कार्य है?

पू. लालचंदभाई: जो परपदार्थ का प्रतिभास ज्ञान की पर्याय में आता है, ज्ञान की पर्याय में राग आदि देह आदि झलकते हैं, प्रतिभास होता है, वो ज्ञान की स्वभाव से स्वच्छता ही ऐसी है कि जिसमें पर पदार्थ का प्रतिभास होवे, इतनी स्वच्छता है। मगर जो ज्ञेय का प्रतिभास हुआ उसके ऊपर लक्ष जाये तो ज्ञेय पर लक्ष हो गया तो ज्ञायक पर लक्ष नहीं आएगा। प्रतिभास हुआ ना, वो ज्ञेयाकर ज्ञान है; ज्ञेयाकार ज्ञान, ज्ञेय के सापेक्ष से देखो तो ज्ञेयाकार ज्ञान ही है। वास्तव में ज्ञेय और ज्ञेय के प्रतिभास को गौण करो तो ज्ञायक का प्रतिभास होता है, वो ज्ञायक ही जानने में आता है, ज्ञेय जानने में आता नहीं है। उसमें कार्य की सिद्धि होती है।

मुमुक्षु: आपने सुबह कहा था कि उपयोग (को) अंतर्सन्मुख करना।

पू. लालचंदभाई: हाँ।

मुमुक्षु: परंतु जब त्रिकाल जाननेवाला ही जानने में आ रहा है तो फिर उपयोग क्यों पलटना? मात्र मान्यता पलटनी कि 'जाननेवाला ही जानने में आ रहा है' तो अनुभव हो जाएगा?

पू. लालचंदभाई: ऐसी मान्यता ही पलट गई कि 'जाननेवाला ही जानने में आता है' तो जाननेवाला जानने में आ जाएगा। परंतु 'मुझे पर जानने में आता है' वह चालू रखे, 'पर का लक्ष करता हूँ ये वास्तविक है' ऐसा श्रद्धा में जब तक है तब तक तो उपयोग पलटेगा नहीं अंदर। अर्थात् उपयोग पलटने की बात किया, उसका अर्थ ये है कि तेरे उपयोग (का) अनंतकाल से पर तरफ लक्ष है, 'पर को मैं जानता हूँ' तो इंद्रियज्ञान प्रगट हुआ; तो गुरुदेव ने कहा कि जो परपदार्थ पर-सन्मुख ज्ञान है उसको, ज्ञान को अंतर्मुख कर। यानि इंद्रियज्ञान का व्यापार पर को प्रसिद्ध करने का ज्ञान बंद कर दे और 'जाननेवाला जानने में आता है' ऐसा ले तो वो उपयोग अपने आप अंतर में हो गया, अंतर्मुख हो गया।

ऐसा तो जाननेवाला जानने में आ ही रहा है ज्ञान की पर्याय में। मगर 'ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक जानने में आ रहा है' ऐसा श्रद्धान कहाँ है उसको? विश्वास कहाँ है? पर के प्रतिभास का विश्वास है कि पर जानने में आता है मगर स्व के प्रतिभास का विश्वास तो (नहीं है)। प्रतिभास दो का है, स्वपरप्रकाशक स्वच्छता है। पर भी प्रतिभासित होता है, पर को जानता है ऐसा नहीं! प्रतिभास अलग चीज है और पर को जानता है, ये अलग चीज है। और स्व का प्रतिभास होता है तो पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है।

क्या कहा? दर्पण में दो का प्रतिभास होता है। परपदार्थ का प्रतिभास स्वच्छता में होता है और

उस स्वच्छता की पर्याय में दल, द्रव्य, वो भी प्रतिभासित तो होता है। दो का प्रतिभास होने पर दो जीव उसको देखते हैं वहाँ सामने, दर्पण के सामने; एक बोलता है कि मेरा मुँह दिखता है, दूसरा कहता है कि मेरे को तो दर्पण दिखता है। बस इतनी देर है!

क्या कहा? प्रतिभास तो दो का होता है। स्वच्छता है न दर्पण में तो अग्नि की ज्वाला भी प्रतिभासित होती है और दर्पण की स्वच्छता में दल भी प्रतिभासित होता है, इसलिए स्वपरप्रकाशक दर्पण की स्वच्छता तो है ही है। मगर वो देखनेवाला दर्पण को देखता है कि मोर को देखता है, अग्नि को देखता है? बस! अग्नि दिखाई देती है कि दर्पण की स्वच्छता और दल दिखाई देता है? क्या दिखाई देता है? जाननेवाले दो हैं, एक अज्ञानी बन जाता है (और) एक ज्ञानी बन जाता है। बस!

प्रतिभास गुणरूप भी नहीं है और दोषरूप भी नहीं है। दु:ख का प्रतिभास ज्ञान की स्वच्छता में, प्रतिभास होता है, वो दु:ख का कारण नहीं है। और सुखमयी आत्मा का प्रतिभास तो ज्ञान की पर्याय में होता है, वो भी सुख का कारण नहीं है। क्या कहा? सूक्ष्म बात है!

सुखमयी भगवान आत्मा सबको ज्ञान की पर्याय में प्रतिभासित तो होता है और रागाादि दु:ख भी प्रतिभासित तो होते हैं, मगर वो उपयोगात्मक किसको कर लेता है? प्रतिभास तो दो का प्रतिभास है। जब भेदज्ञान करता है कि जाननेवाला जानने में आता है, राग आदि और दु:ख जानने में आता ही नहीं है, जानने में आता ही नहीं है तो वहाँ से लक्ष हट जाता है, खिसक जाता है और उपयोग जानन पर आ जाता है तो अनुभव हो जाता है। प्रतिभास मात्र सुख-दु:ख का कारण नहीं है। (ज्ञायक का) प्रतिभास को उपयोगात्मक कर लेना, ज्ञायक को कर लेना तो ज्ञानी हो जाता है। और मोटर दिखती है, दिखती है मोटर (मगर) मोटर को देखता नहीं है। दिखने से क्या हुआ? कि मोटर दिखाई देती है, वो ज्ञान का अज्ञान हो गया। और ज्ञान में ज्ञायक दिखता तो है, मगर (जब) उसको देखता है तो ज्ञानी होता है। दिखती तो हैं दोनों ही चीज, मगर मेरी चीज कौन (है)? मोटर मेरी कि ज्ञायक मेरा? ऐसी चीज है।

मुमुक्षु: पूज्य भाईश्री आपश्री ने फरमाया था कि जानने के दो प्रकार हैं।

पू. लालचंदभाई: हाँ।

मुमुक्षु: एक निर्विकल्पध्यान के काल में आत्मा उपयोगात्मकपने जानने में आता है और भावेन्द्रिय का व्यापार लब्धरूप से रहता है।

पू. लालचंदभाई: बराबर है।

मुमुक्षु: दूसरा सविकल्पदशा में परिणति लब्धरूप से आत्मा को जानती हुई परिणमती है।

पू. लालचंदभाई: बराबर है।

मुमुक्षु: और भावेन्द्रिय का व्यापार उपोयगरूप होता है।

पू. लालचंदभाई: बराबर है।

मुमुक्षु: तो प्रश्न नंबर एक ऐसा है कि छद्मस्थ के लिए तो ऊपर की बात बराबर है?

पू. लालचंदभाई: हाँ, बराबर।

मुमुक्षु: परंतु यहाँ प्रश्न ये है कि क्या एक ही ज्ञान की पर्याय में जानने में ये दो प्रकार एक ही समय में होते हैं कि किस प्रकार से? कृपया करके विशेष स्पष्टता करें।

पू. लालचंदभाई: अतीन्द्रियज्ञान में तो आत्मा ही जानने में आता है; और इंद्रियज्ञान में देह आदि जानने में आते हैं, वो छद्मस्थ की स्थिति है। और केवली परमात्मा को एक समय में केवलज्ञान जो हो गया, उसमें लोकालोक का प्रतिभास तो होता है, मगर जानते हैं अपने आत्मा को; लोकालोक को नहीं। प्रतिभास होने से कहा जाता है कि लोकालोक को जानते हैं, ऐसा कहा जाता है। सचमुच लोकालोक के साथ केवलज्ञान तन्मय नहीं है, इसलिए उसको नहीं जानता है; और केवलज्ञान आत्मा के साथ तन्मय है इसलिए आत्मा को ही जानता है, पर को नहीं।

मुमुक्षु: खुलासा नहीं हुआ।

पू. लालचंदभाई: फिर से क्या खुलासा?

मुमुक्षु: प्रश्न ये है कि छद्मस्थ के लिए तो ऊपर की दोनों बात बराबर हैं।

पू. लालचंदभाई: छद्मस्थ के लिए बात बराबर है और केवली के लिए क्या है, ऐसा है?

मुमुक्षु: हाँ।

पू. लालचंदभाई: हाँ।

मुमुक्षु: तो क्या एक ही ज्ञान की पर्याय में जानने के दो प्रकार हैं और एक ही समय में ये दोनों प्रकार हैं?

पू. लालचंदभाई: केवलज्ञान की पर्याय में?

मुमुक्षु: अभी प्रश्न दूसरा है कि केवलज्ञान में तो निर्विकल्प-सविकल्प ऐसे भेद पड़ते ही नहीं हैं।

पू. लालचंदभाई: नहीं हैं, ठीक है।

मुमुक्षु: तो केवलज्ञान में 'जानने का' और 'जानने में आने का' कैसा प्रकार है? ये कृपया करके स्पष्ट कीजिए।

पू. लालचंदभाई: केवलज्ञान में जाननेवाला जानने में आ रहा है, अभेदपने तन्मय होकर; और उसमें लोकालोक का प्रतिभास होता है तो लोकालोक को जानते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; निश्चय से उसके साथ तन्मय नहीं है।

केवल निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान;
कहिए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण। (आत्मसिद्धि शास्त्र – गाथा ११३)

प्रतिभास लोकालोक का होता है, जरूर। प्रतिभास नहीं होता है ऐसा नहीं है। तो तो वाणी में, केवली भगवान की वाणी में आवे कहाँ से कि तीर्थंकर होंगे पहले तीर्थंकर? श्रेणिक महाराज अभी नरक में हैं (और) पहले तीर्थंकर होंगे। और तेरहवें तीर्थंकर अभी होंगे इधर। तीर्थंकर का नाम भी निश्चित है, चौबीसों का। ये तो जाने बिना कहाँ से आए? तो उसको नहीं जाना है; उसका (जो) प्रतिभास हुआ, ऐसा ज्ञान की पर्याय को जानते हैं केवली; पर को नहीं जानते हैं।

'मैं पर को जानता हूँ' इसका निषेध है, 'जनित जाता है' (जानने में आ जाता है) इसका निषेध नहीं है। जनित जाते हैं, छद्मस्थ को भी जनित जाते हैं पर पदार्थ, केवली को भी एक समय में जनित जाते हैं। जनित जाते हैं इसका निषेध नहीं (है)। राग जनित जाता है, मगर मैं राग को जानता हूँ (इसका निषेध है)। राग को तू जानता हो कि ज्ञायक को जानता हो? - वहाँ भूल हो गई, भूल वहाँ हो गई।

जानता है स्व को, समय-समय पर, अज्ञानी, आबाल-गोपाल सबको ज्ञायक भगवान आत्मा जानने में आता है। इसका अर्थ ये है कि स्व जानने में आने पर भी 'मैं पर को जानता हूँ' यानि 'स्व को नहीं जानता हूँ' तो इसका नाम अज्ञान हो गया।

प्रश्न अच्छा है। सूक्ष्म! सब प्रश्न आ गए। विषय ही सूक्ष्म चलता है दोनों टाइम तो प्रश्न भी सूक्ष्म ही आवे न। अच्छी बात है! जयपुर में भी ऐसे ही प्रश्न आते थे। २७१ कलश चला ना? तो ऐसे ही प्रश्न वहाँ जयपुर में (आये)।

मुमुक्षु: फिर आगे! क्या प्रमाण के द्रव्य में भी पर्याय के प्रदेश भिन्न दिखते रहते हैं?

पू. लालचंदभाई: प्रमाण ज्ञान के अंदर द्रव्य और पर्याय अनन्य होकर पदार्थ का ज्ञान होता है। इसलिए प्रदेश भिन्न होने पर भी भेद दिखाई देता नहीं है, अभेद दिखाई देता है। जब नय ज्ञान करो तो प्रदेश-भेद है; नय ज्ञान नहीं करो, तो अभेद करो तो एक ही प्रदेश है, एक ही क्षेत्र है। निर्मल पर्याय जिसमें है उसमें ही आत्मा (है) और आत्मा है उसमें निर्मल पर्याय है। जैसे दो द्रव्य की भिन्नता में प्रदेश-भेद है, ऐसा नहीं है; अपेक्षा से प्रदेश-भेद है (और) अपेक्षा से अभेद है। जिस प्रदेश में ज्ञायक है उस प्रदेश में ज्ञान की पर्याय होती है; अभेद है वो। अभेद विवक्षा से प्रदेश-भेद नहीं है, भेद की विवक्षा से, नय की विवक्षा से प्रदेश-भेद है।

प्रदेश-भेद का भी एक logic (न्याय) है, प्रदेश-भेद के अंदर भी एक logic, न्याय है। क्या है? कि ज्ञायक जो त्रिकाली सामान्य स्वभाव है, उसके प्रदेश, और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम (जो) प्रगट हुआ, आत्मा के आश्रय से निर्मल पर्याय, उसका प्रदेश, कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। पदार्थ की अपेक्षा से अभिन्न है प्रदेश और नय की विवक्षा से देखो तो भिन्न है। भिन्न का logic क्या? logic क्या (है) उसका? कि जो पर्याय निर्मल उत्पादरूप हुई, उसका प्रदेश और द्रव्य का प्रदेश, प्रदेश-क्षेत्र, एक ही क्षेत्र सर्वथा हो तो पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश हो जाएगा, मगर पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश होता नहीं है इसलिए पर्याय का प्रदेश भिन्न और द्रव्य का प्रदेश भिन्न है, (ये) एक (न्याय)। दूसरा, दूसरा न्याय कि आत्मा का जब अवलंबन लेता है साधक, साधक तो हो गया, निर्मल पर्याय परिणत द्रव्य तो उसके पास है। तो वो सामान्य का अवलंबन लेता है या सामान्य-विशेष दोनों का अवलंबन लेता है?

मुमुक्षु: सामान्य का।

पू. लालचंदभाई: सामान्य का ही अवलंबन लेता है। इसलिए नक्की होता है कि पर्याय का प्रदेश भिन्न है। वो अवलंबन में आता नहीं है, सामान्य का अवलंबन आता है मगर पर्याय भिन्न है इसलिए (उसका) अवलंबन आता नहीं है। दो न्याय हैं उसके। सतीश! सूक्ष्म बात है ये। कपड़े का व्यापार करने से बहुत सूक्ष्म है।

बड़ा फायदे की बात है यह। वो कमाई करें फिर दो भाग, फिर चार भाग, फिर चार के चार, चार के चौबीस ऐसे भाग करते-करते अर्थात् खेत में भाग होते हैं कुटुंब में, गाँव में। खेत समझे न? खेती करने के लायक। तो पहले चार भाई थे तो १०० भीघा जमीन थी तो २५-२५ भीघे का बटवारा हो गया, चार टुकड़े हो गए। और एक भाई के चार लड़के हुए तो २५ का ६-६ बीघा आ गया, टुकड़े,

इतनी जमीन रही। ऐसे वो जो लक्ष्मी का भाग है न, वो तो हाथ में कुछ नहीं आएगा। मगर वो जो ज्ञान की कमाई है उसमें कोई भागीदार नहीं है।

मुमुक्षु: सही बात है।

पू. लालचंदभाई: उसमें income tax (आयकर) नहीं, sales tax (बिक्री कर) नहीं, कोई भागीदारी नहीं। ज्ञान की लक्ष्मी कोई अपूर्व चीज है। आत्मज्ञान वो ज्ञान है, बाकी पूरा अज्ञान है। शास्त्रज्ञान ज्ञान नहीं है।

मुमुक्षु: अनुभव के काल में गुण और पर्याय दोनों नहीं दिखते, मात्र एक अभेद वस्तु ही दिखती है। तो क्या ऐसा माना जाए कि गुण और पर्याय दोनों ही द्रव्यदृष्टि में नहीं हैं?

पू. लालचंदभाई: द्रव्यदृष्टि में अर्थात् दृष्टि का विषय जो है, उसमें गुण नहीं है - ऐसी बात नहीं है (मगर) पर्याय नहीं हैं; गुणों से तो सहित है, पर्याय से रहित (है)। **एकत्वविभक्त** (समयसार गाथा ५) अनंत गुणों से एकपना है और अनंत पर्याय से मैं विभक्त (अर्थात्) जुदा (हूँ)। दृष्टि के विषय में गुण तो रहते हैं मगर गुण-भेद दिखाई देता नहीं है; ये ज्ञान है, ये दर्शन, ये चारित्र है - ऐसा गुणभेद दिखाई देता नहीं है; एक अभेद एकाकार सामान्य (ही) दिखाई देता है। और उसकी दृष्टि करके उसमें एकाग्र हुआ तो निर्मल पर्याय प्रगट हुई। वो ज्ञेय हो गया, तो उसमें पर्याय का भेद भी दिखाई देता नहीं है; भेद है मगर दिखाई देता (नहीं है)। आहाहा! पर्याय-भेद नहीं है गुण-भेद नहीं है, ऐसा नहीं; भेद का लक्ष छूट जाता है तो अभेद सामान्य और सामान्य-विशेष स्वरूप पूरा आत्मा ज्ञेय हो जाता है। तो उसमें सब है, अनंत गुण हैं, अनंत धर्म हैं, अनंत पर्यायें हैं। वो कहाँ जायें? मगर वहाँ लक्ष नहीं है।

जिसका लक्ष होता है वो जानने में आता है। भेद पर लक्ष नहीं है, अभेद पर लक्ष है तो गुण-भेद दिखाई देते नहीं हैं। गुण-भेद तो हैं उसमें - ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र; ज्ञान दर्शन नहीं है, दर्शन चारित्र नहीं है; अतद्भाव गुण तो हैं अनंत। मगर गुण पर, भेद पर लक्ष है नहीं (बल्कि) गुणी पर लक्ष है। तो गुणी का ज्ञान हुआ तो अनंत गुण का ज्ञान हो गया। और ज्ञान की पर्याय में परिणमन होकर ज्ञायक को जान लिया तो ज्ञायक के आश्रय से जितनी निर्मल पर्यायें हुईं, वो भी जानने में आ जाती हैं ज्ञान में। ज्ञान का स्वभाव सविकल्प है इसलिए जानने में आ जाती हैं, सब पर्यायें। निर्विकल्पध्यान के काल में हों! अंदर स्वपरप्रकाशक शक्ति है, अंदर के स्वपरप्रकाशक की बात है।

मुमुक्षु: निर्विकल्पध्यान में?

पू. लालचंदभाई: हाँ! निर्विकल्पध्यान में, निर्विकल्पज्ञान, में अंदर में विकल्प नहीं है। आहाहा! भेद का लक्ष नहीं है क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान प्रगट हो गया। इसका क्या अर्थ? ज्ञान ने ज्ञान को जाना, ज्ञायक को तो जाना मगर आनंद आया उसको भी जान लिया। तो ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान स्व (है) और आनंद (की) पर्याय प्रगट हुई वो गुण पर है। ज्ञान गुण स्व और आनंद हुआ वो पर, अंदर के अंदर, स्व-पर (का विभाग है)। ऐसा स्वपरप्रकाशक, निश्चय से अंदर का स्वपरप्रकाशक अनुभूति के काल में होता है। जब बाहर में आता है तो स्वपरप्रकाशक व्यवहार (है)। एक निश्चय प्रगट हुआ तो निश्चयपूर्वक का व्यवहार होता है कि अपने आत्मा को भी जाना और व्यवहार रत्नत्रय का परिणाम भी जानने में आया, देव-गुरु-शास्त्र भी जानने में आया; तो उसका नाम स्वपरप्रकाशक व्यवहार है। एक

स्वपरप्रकाशक निश्चय और एक स्वपरप्रकाशक व्यवहार और एक स्वप्रकाशक निश्चय। स्वप्रकाशक निश्चय, निश्चयपूर्वक स्वपरप्रकाशक निश्चय, बाद में स्वपरप्रकाशक व्यवहार; तीन बात हुईं। और एक स्वपरप्रकाशक भव्य-अभव्य अज्ञानी के पास है, वो अज्ञानमय है। उसके पास भी स्वपरप्रकाशक है।

मुमुक्षु: वो कैसा है?

पू. लालचंदभाई: वो कैसा? कि ऐसी ज्ञप्ति है ना, तो ज्ञायक भी जानने में उसमें आता है, प्रतिभास (रूप) और दु:ख भी जानने में उसको, एकेन्द्रिय को आता है कि नहीं? तो उस अपेक्षा से स्वपरप्रकाशक है। मगर भेदज्ञान का अभाव है उसके पास। संज्ञी पंचेन्द्रिय हो और अपनी योग्यता और गुरुगम मिले, भेदज्ञान करे तो स्वप्रकाशक में आता है 'पर को जानता ही नहीं हूँ, स्व-पर को भी जानता नहीं हूँ'। स्वपरप्रकाशक, ज्ञान का लक्षण ही नहीं है। क्या कहा?

मुमुक्षु: स्वपरप्रकाशक, ज्ञान का लक्षण ही नहीं है।

पू. लालचंदभाई: नहीं है। ज्ञान का लक्षण तो स्वप्रकाशक ही है, तो ज्ञान में ज्ञायक तन्मय होकर जानने में आता है; तो अंदर का स्वपरप्रकाशक प्रगट हुआ; (और) बाहर का स्वपरप्रकाशक प्रगट हुआ; ऐसे तीन प्रकार पड़ जाते हैं, साधक को। शशिभाई! ये सब थोड़ा कठिन लगे लेकिन जानने जैसा है।

मुमुक्षु: आपकी कृपा से सब सरल हो जाता है साहेब।

पू. लालचंदभाई: आपकी आत्मा की कृपा से सरल होता है। दूसरे की कृपा का क्या काम है? दूसरे किसी की कृपा काम आती नहीं। ऐसा गंभीर विषय है बहुत। गुरुदेव के प्रताप से ये सब बात बाहर आ गई है।

ये नियमसार (गाथा १५९) के अंदर है, केवलज्ञान की पर्याय के अंदर लिखा कि **स्व-पर स्वरूपका प्रकाशकपना कथंचित् कहा है**। सारा जगत स्वपरप्रकाशक को सर्वथा मानता है, अभी भी मानता है। स्वपरप्रकाशक को सर्वथा मानता है। जो सर्वथा स्वपरप्रकाशक को माने वो अज्ञानी है; और कथंचित् स्वपरप्रकाशक है वो ज्ञानी है।

कथंचित् का क्या? कि निश्चय से स्वपरप्रकाशक अंदर का और व्यवहार से स्वपरप्रकाशक बाहर का तो कथंचित् हो गया, स्याद्वाद हो गया। वहाँ स्याद्वाद लगाओ ना। आहाहा! वो नियमसार में है, किसी (और) जगह पर शास्त्र में ऐसा नहीं है कथंचित्। स्वपरप्रकाशक के आगे शब्द कथंचित् लगानेवाले भावि तीर्थंकर हैं (नियमसार कलश २१२), पद्मप्रभमलधारी देव, मुनि थे मुनि, आचार्य नहीं, मुनि थे, साधु। आहाहा! एकदम मस्ती अंदर में आनंद की, उसमें लिख दिया कि केवलज्ञान में स्वपरप्रकाशक लोग सर्वथा मानते हैं। केवलज्ञान की पर्याय में स्वपरप्रकाशक सर्वथा नहीं है (बल्कि) कथंचित् है। कथंचित् है इसका अर्थ क्या? कि निश्चय से स्वपरप्रकाशक और व्यवहार से स्वपरप्रकाशक। कथंचित् में दो आते हैं। निश्चय-व्यवहार दोनों। अभी निश्चय स्वपरप्रकाशक (ही) प्रगट नहीं हुआ और स्वपरप्रकाशक, स्वपरप्रकाशक (कहते हैं) वो तो निगोद में (भी) है, क्या फायदा तेरे को हुआ? रमेशबाबू! लक्षण बाँधा है, पंचास्तिकाय शास्त्र है उसमें १२१ वीं गाथा में स्वपरप्रकाशक लक्षण किया है। शरीर लक्षण नहीं है, द्रव्येन्द्रिय ....